

भारतीय वैदिककालीन शिक्षा की दशा एवं दिशा

डॉ० निर्मल सिंह यादव,

आकाशवाणी के सामने ठाटीपुर गाँव, गाँधी रोड, ग्वालियर(म.प्र.)

मानव जीवन में शिक्षा उस विश्वास एवं आश की तरह है जिसके तीव्र प्रकाश में वह अन्तरिक्ष को छू चुका है और इसी प्रकाश में मानव आज कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। मानव विकास की आधारशिला शिक्षा ही है। जैसे तो शिक्षा निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिससे मनुष्य की जन्मजात शक्तियों को मुखरित एवं प्रदर्शित होने का अवसर मिलता है। उसके ज्ञान एवं कलात्मक प्रवृत्तियों का विकास होता है और इसी विकास के परिणामस्वरूप मनुष्य के व्यक्तित्व एवं व्यवहार में परिवर्तन होता है। मानव जीवन में शिक्षा ही ऐसा तत्व है, जिसके द्वारा मानव अन्य प्राणियों से विशिष्टता रखता है। यद्यपि मानव की अन्य प्राणियों से अलग पहचान उसकी शारीरिक बनावट, बुद्धि-लब्धि व अन्य कारणों से भी है, परन्तु मानव की ये विशेषताएँ शिक्षा के कारण ही उसकी विशिष्टता को सिद्ध करती हैं। मनुष्य सभ्य एवं सुसंस्कृति प्राणी के रूप में पहचाना जाता है। मानव जीवन के हर पक्ष का विकास चाहे वह विज्ञान हो, समाज में हो, शोध में हो या कोई नवीन अविष्कार, सबका एक ही मूल रूप होता है।

शिक्षा की परिभाषा को महज कुछ शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। प्राचीन काल से आज तक शिक्षा का स्वरूप व अर्थ अपने समय के अनुसार ही निर्धारित होता रहा है। हर युग में, उस युग के विद्वानों ने अपने समय की मांग के अनुसार उसकी सीमायें निर्धारित करते हुये परिभाषित किया है। संसार और मानव जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण होता है, उसी के अनुसार हमारी शिक्षा के उद्देश्य निश्चित हुये

और उन्ही उद्देश्यों के आधार पर ही शिक्षा को परिभाषित किया गया।

आदर्शवादी विचारकों ने मनुष्य के लौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन को अधिक महत्वपूर्ण माना है इसलिये शिक्षा को इस भौतिक जीवन से मुक्ति दिलाने का साधन बताया है। प्राचीन भारत में भी यही विचार विद्यमान था

सा विद्या या विमुक्तये – विष्णु पुराण—अर्थात् वह शिक्षा है जो मुक्ति दिलाये।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने भी आत्मानुभूति को सर्वोपरि माना है। ये शिक्षा के द्वारा मनुष्य का नैतिक विकास कर उसे आत्मानुभूति कराने की बात कहते थे। उनके अनुसार शिक्षा का पर्याय रहा है। “शिक्षा का कार्य, मनुष्य के शरीर और आत्मा को पूर्णतः प्रदान करना जिसके कि वे योग्य है।”

प्लेटो के शिष्य अरस्तू भी मनुष्य के लिये आत्मा की अनुभूति शिक्षा के द्वारा करवाना चाहते थे। उन्होंने शिक्षा को इस तरह परिभाषित किया है—“स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण ही शिक्षा।”

भारतीय दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द ने प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य एवं अर्थ आत्मा की पूर्णता में माना है —“मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है।”

मानव जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत से ही शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जाता था, इसका प्रमाण यह है कि शिक्षा को प्रकाश का स्रोत, अन्तर्दृष्टि, ज्ञानचक्षु

और मनुष्य का तीसरा नेत्र माना जाता था। उस युग में भारतीयों का विचार था कि, शिक्षा के प्रकाश, व्यक्ति के मन में व्याप्त संशय रूपी अंधकार को दूर करता है। इससे व्यक्ति में विवेक और कुशलता की वृद्धि होती है।

मानवीय मूल्यों के उन्नयन में वैदिक शिक्षा की अहं भूमिका है। इसी सषक्त साधन के माध्यम से ही मानवीय मूल्यों के प्रति सजगता व सचेष्टता का भाव उत्पन्न होता है। शिक्षा का अभिप्राय मात्र उपाधियों का अर्जन नहीं है अपितु मानवोचित गुणों के विकास से है। इसका विषय मात्र विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों तक ही सीमित नहीं है वरन् वैदिक ऋषियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान परम्परा से भारतीय संस्कृति को समृद्ध करना है। अपने गौरव से जिस भारत को विश्व में जगद्गुरु की उपाधि मिली थी, उसी गौरव का संरक्षण करना है। शिक्षा का आदर्श जब तक व्यवहार बनकर इस स्तर तक न उतर आये जो मानव-हृदय को स्पन्दित कर बुद्धि को प्रकाशित कर दे, तब तक वह कल्याण का माध्यम नहीं बन सकती है। आज वैश्वीकरण के युग में मानव अनेक चुनौतियों एवं सम्भावनाओं के मध्य जीवन-यापन कर रहा है। इस बदलते परिवेश में नवीन परिस्थितियों व प्राचीन संस्कृति के मध्य समन्वय रखते हुए भविष्य का चिन्तन करना होगा। यद्यपि आज प्राचीन शिक्षा और आधुनिक शिक्षा के मध्य शताब्दियों का अन्तराल है। वैदिक शिक्षा पद्धति की पुनरावृत्ति असम्भव है फिर भी यदि गम्भीरता से विचार करें तो यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि यदि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में वैदिक शिक्षा प्रणाली के कुछ तथ्यों का समायोजन किया जाये तो हम आधुनिक शिक्षा को अधिक प्रभावशाली बना सकते हैं। वर्तमान काल में उनकी उपादेयता सार्वकालिक है। दिग्भ्रमित अज्ञान मार्ग की ओर अग्रसर मानव के लिए यह प्रकाश स्वरूप है। तमसो मा ज्योतिर्गमय यह कथन इस की पुष्टि में स्पष्ट प्रमाण है। इसी के माध्यम से युवा पीढ़ी सशक्त तथा सृजनोन्मुख हो

समुन्नत राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो सकती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने शिक्षक की भूमिका में गुरु, उपाध्याय और आचार्य में पृथक्-पृथक् विशेषताओं का उल्लेख किया है, उन्होंने सत्य को ग्रहण कराने वाले और असत्य को छुड़ाने वाले को गुरु, वेदों के एक देश अथवा अंगों को पढ़ाने वाले को उपाध्याय एवं सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्ययन कराके मिथ्याचार का त्याग कराने वाले को आचार्य कहा गया है।¹ आचार्य अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता वैज्ञानिक चिन्तक जागरुक एवम् दूरदर्शी होता था।² ब्रह्मचर्य का पालन आचार्य के लिये भी आवश्यक था।³

वैसे तो वैदिक शिक्षा प्रणाली के छः महत्त्वपूर्ण घटक माने जाते हैं, जिनके आधार पर ही तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था का विधिवत् वर्णन किया जा सकता है-शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षा-केन्द्र, शिक्षा के विषय, माता-पिता तथा समाज। शिक्षा के अर्थ में वैदिक साहित्य में अधिकांशतः ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग मिलता है क्योंकि तत्कालीन समाज में शिक्षा प्रदान करने का कार्य प्रमुख रूप से ब्राह्मण का ही था।⁴ ऋग्वेद में एक स्थल पर शिक्षक के लिये शाक्त शब्द का प्रयोग भी मिलता है।⁵ अथर्ववेद में आचार्य शब्द प्रयुक्त हुआ है।⁶ आचार्य यास्क ने आचार्य शब्द की निरुक्ति -**आचारं ग्राह्यति आचिनोति अर्थात् आचिनोति बुद्धिमिति वा**⁷ कहकर आचार्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। आचार्य व शिष्य में पिता-पुत्रवत् सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है।⁸ ज्ञानरूपी ज्योति आचार्य से ही प्राप्त होती थी। आमृतमय ज्ञान का स्रोत आचार्य अपने ज्ञान के प्रकाश से अध्येता का अज्ञान रूपी अन्धकार मिटाकर उसे दिव्य दृष्टि प्रदान करता था।

मनुस्मृति के प्रणेता आचार्य मनु का भी कथन है कि जो द्विज शिष्य को उपनीत करके उसे कल्प और रहस्य सहित वेद पढ़ाता है, उसे

आचार्य कहते हैं—उपनीय तु यः शिष्यं वेदमाध्यापयेद्द्विजः, सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।⁹

अथर्ववेद में कहा गया है कि आचार्य स्वयं अनुशासित रहकर शिष्यों को अनुशासन में रखे।¹⁰ आचार्य को संयमी एवं ब्रह्मचारी होना चाहिये और ब्रह्मचारी प्रजापति होता है—आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।¹¹ आचार्य के सम्बन्ध में अथर्ववेद में यह भी उल्लेख मिलता है कि आचार्य का दायित्व है कि वह दिव्य मन से तथा शुद्ध चित्त से शिक्षार्थी को शिक्षा दे—पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।¹²

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि वेद कालीन शिक्षा पद्धति में शिक्षा के मनोरम होने का भी उल्लेख है, जिसमें विद्यार्थी का मन रम जाये तथा वह आचार्य द्वारा किये गये उपदेशों को हृदयंगम कर ले—वसोष्पते निरमय मथ्येवास्तु मयि श्रुतम्।¹³ अथर्ववेद में आचार्य शब्द के लिये मृत्यु, वरुण, सोम औषधि और पयस् आदि विशेषण प्रयुक्त हैं—आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम औषधयः पयः।¹⁴

इसमें कोई दो राय नहीं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा उच्चकोटि की थी। यह व्यक्ति को आश्रम व्यवस्था के अनुरूप जीवन जीने व समाज की कठिनाइयों एवं समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त बनाती थी। जन्म के साथ व्यक्ति पर तीन ऋण हो जाते हैं देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋण। इनसे मुक्त होना व्यक्ति का कर्तव्य है और प्रत्येक माता-पिता अपनी संतान को शिक्षा प्रदान करते थे उसके सबसे बड़े वैरी हैं। इसलिए शिक्षा से ही सही गलत की जानकारी प्राप्त होती है और यही शिक्षा का दर्शन था, है और रहेगा। एक कहावत है..... “यदि आप एक घण्टे का आनन्द लेना चाहते हैं तो शराब पीजिए, यदि एक दिन का आनन्द लेना चाहते हैं, तो किसी सुन्दरी से शादी कीजिए, यदि एक सप्ताह का आनन्द

लेना चाहते हैं, तो देष्टान कीजिए और यदि जीवन भर का आनन्द लेना चाहते हैं तो पुरुषार्थ—परिश्रम कीजिए।”

शिक्षा के विषय में वैदिक दृष्टि से अवलोकित करने पर यह देखा जा सकता है कि भारत की पहचान विश्व गुरु के रूप में थी। कतिपय विपरीत परिस्थितियों ने उस छवि को धूमिल कर दिया। इक्कीसवीं सदी में हमें अपनी पहचान फिर से बनानी होगी। सुशिक्षित सुसमृद्ध भारत का सपना साकार करने के लिये समस्त चुनौतियों को स्वीकार करना होगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानन्द, पृ0 407
2. ऋग्वेद 10 / 134 / 7
3. ऋग्वेद 8 / 3 / 3
4. संहितोपनिषद् ब्राह्मण 3 / 9
5. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ऋग्वेद 7 / 103 / 5
6. अथर्ववेद 11 / 5 / 1 ; 8 ; 14 ; 15—17
7. निरुक्त 1 / 2
8. पिता पुत्रेभ्यो यथा अथर्ववेद 20 / 79 / 1—2
9. मनुस्मृति 2 / 140
10. वाचस्पतिर्नियच्छतु मथ्येवास्तु मयि श्रुतम्। अथर्ववेद 1 / 1 / 3
11. अथर्ववेद 11 / 5 / 16
12. अथर्ववेद 1 / 1 / 2
13. अथर्ववेद 1 / 1 / 2
14. अथर्ववेद 11 / 5 / 14